

5. भीष्म साहनी

नयी कहानी में सामाजिक यथार्थ और वस्तुपरकता की दृष्टि से भीष्म साहनी की कहानियाँ खासतौर से महत्त्वपूर्ण हैं। परंपरा के विरोध और तिरस्कार के अतिरेकपूर्ण उत्साह को अंगूठा दिखाते हुए जैसे वे यशपाल की परंपरा से अपने को जोड़कर गौरवान्वित महसूस करती हैं। भीष्म साहनी की कहानियाँ उस संक्रमण का संकेत भी बहुत साफ ढंग से देती हैं जो पुरानी और नयी कहानी के बीच एक विभाजक रेखा-सी खींचता है। अपनी उम्र और संस्कारों की दृष्टि से भीष्म साहनी नयी कहानी की अपेक्षा इस पीढ़ी के अधिक निकट पड़ते हैं, जो प्रेमचंद के बाद अस्तित्व में आयी थी और नयी कहानी से अलगाने के लिए जिसे, सुविधा की दृष्टि से, 'पुरानी पीढ़ी' कहा जाता रहा है। अपने एक पत्र में भीष्म साहनी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करते हुए वह यशपाल, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, अज्ञेय आदि की रचनाएँ पढ़ते रहे थे - या फिर इसके पहले सुदर्शन, प्रेमचंद आदि की। अपने इसी पत्र में भीष्म साहनी ने यह भी स्वीकार किया है कि राकेश आदि की रचनाएँ तब पढ़ीं जब वह स्वयं लिखने लगे थे और 'कहानी' के माध्यम से इनके संपर्क में आये '.....प्रभावों का ब्यौरा लिया जाये तो निश्चय ही यशपाल आदि की पीढ़ी की रचनाओं को अधिक ग्रहण करता रहा हूँ। और अपने रचनात्मक प्रयासों में, पहले पढ़े हुए साहित्य को व्यक्त एक तरह से संस्कार रूप में ग्रहण करता है। समकालीनों की रचनाओं के प्रति दृष्टि दूसरी होती है, कुछ-कुछ आलोचनात्मक और किसी हद तक नकारात्मक भी, क्योंकि उस समय लेखक स्वयं अपना व्यक्तित्व खोज रहा होता है, हालांकि ग्रहण तो वह अपने समकालीनों से भी बहुत कुछ करता है।'

भीष्म साहनी का यह वक्तव्य बहुत अच्छी तरह इसे स्पष्ट कर देता है कि नयी कहानी के प्रति उनका रवैया उत्साहपूर्ण स्वीकार और संलग्नता से भिन्न काफी कुछ आलोचनात्मक और नकारात्मक रहा। नयी कहानी में तेजी से विकसित हो रहे आत्मगत रुझानों से अपने को बचाकर चलने की उनकी सजगता में इस आलोचनात्मक और नकारात्मक रवैये की भूमिका को आसानी से समझा जा सकता है। वैसे देश की स्वतंत्रता से पूर्व ही उनकी कहानियाँ अमृत राय के संपादन में निकलने वाले 'हंस' में निकलने लगी थीं लेकिन उनका विधिवत् और व्यवस्थित लेखन देश विभाजन के बाद ही शुरू होता है। उनकी प्रारंभिक कहानियों के दो संग्रह, 'भाग्यरेखा' और 'पहला पाठ' उन्हीं की सूचनानुसार क्रमशः 1953 और 1956² में आये। इसके बाद,

नयी कहानी की प्रतिष्ठा और विकास के समूचे काल में देश के बाहर - मास्को में - रहने के कारण उस पूरे परिदृश्य में वह अनुपस्थित बने रहते हैं। फिर सन् 63 में अपनी वापसी के बाद ही वह कहानी के क्षेत्र में नियमित रूप से सक्रिय होते हैं। इस बीच, नयी कहानी के उस पूरे परिदृश्य से दूरी का लाभ उन्हें मिला। नयी कहानी संबंधी अनेक विवादों से तो वह बचे ही रहे, उसके आत्मगत और रूमानी रुझानों से भी वह अपने को बचा सके। सुदर्शन, प्रेमचंद और यशपाल के संस्कार जो उनके खून में ख-बस गए थे उनके अतिरिक्त मास्को प्रवास में क्लासिकी और आधुनिक रूसी लेखकों के अनुवाद कार्य से भी भीष्म साहनी को एक ऐसा सुदृढ़ सामाजिक आधार सहज ही मिल सका जो कैसे भी भाववादी-कलावादी भटकाव से उन्हें बचा पाने में सक्षम था। सन् 63 में उनकी वापसी के समय तक नयी कहानी के आंदोलन का ज्वार बैठ चुका था। जहाँ उसके कई प्रमुख कहानीकार इस आंदोलन की समाप्ति के साथ ही रचनात्मक रूप में निष्क्रिय हो चुके थे, भीष्म साहनी निरंतर विकास करते रहे हैं। यह अकारण नहीं है आज जब कहानी की सामाजिक यथार्थ वाली धारा पर पर्याप्त और समुचित बल दिये जाने की प्रवृत्ति विकसित हो रही है तो वह अमरकांत की तरह ही एक प्रमुख कहानीकार तो ठहरते ही हैं - उन्हें यह श्रेय भी दिया जाना चाहिए कि उन्होंने परवर्ती हिंदी कहानी को भाववादी और रूपवादी भटकाव से बचने के लिए महत्वपूर्ण रचनात्मक संघर्ष किया है।

भीष्म साहनी की आरंभिक कहानियों के दो संग्रहों - 'भाग्यरेखा' और 'पहला पाठ' - में कुल मिलाकर उन्नीस कहानियाँ हैं। संख्या में पर्याप्त होते हुए भी इनमें ऐसी कहानियाँ अपेक्षाकृत कम हैं जो किसी नये लेखक के प्रति गहराई से आकृष्ट करने में सफल होती हैं। इन कहानियों की रचना-वस्तु प्रेमचंद, यशपाल, चंद्रकिरण, सौनरेक्सा और अमृतराय आदि की प्रगतिशील कथाधारा को ही विस्तार देती है। स्पष्ट विकसित होती वर्गचेतना और आर्यसमाज के प्रति तीखी आलोचनात्मक दृष्टि के कारण इन सारे लेखकों में भी भीष्म साहनी यशपाल के अधिक निकट पड़ते हैं। वैसे तो 'शिष्टाचार', 'भाग्यरेखा', 'गंगो का जाया' और 'जोत' जैसी सामान्य कहानियाँ भीष्म साहनी की संलग्नता और रचनात्मक सरोकारों की दृष्टि से उल्लेखनीय मानी जा सकती है लेकिन 'तमगे' और 'मुर्गी की कीमत' जैसी कहानियाँ इस काम को और बेहतर ढंग से करती हैं क्योंकि वे सर्जनात्मक दृष्टि से भी लेखक की क्षमताओं के प्रति दूर तक आश्वस्त करने वाली कहानियाँ हैं। 'तमगे' दूसरे महायुद्ध की पृष्ठभूमि में युद्ध की मानव विरोधी फासिस्ट प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान करती ही है,

इससे भी अधिक वह इस तथ्य को सफलतापूर्वक उद्घाटित करती है कि युद्ध से सीधे तौर पर न तो वे हुक्मरान प्रभावित होते हैं जिनकी भूमिका केवल आदेशों और निरीक्षण तक सीमित है और न ही वे जमींदार और समाज के तथाकथित प्रतिष्ठित लोग जो अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए अनपढ़ और गरीब लोगों को सब्जबाग दिखाकर भरती का अपना निर्धारित कोटा पूरा करते हैं।.... 'अगर जंग छिड़ गयी तो क्या होगा?.....' इस सवाल का सही जवाब न तो सुरुचि-संपन्न भाभी से मिल सकता है और न ही वाली साहब जैसे किसी सफेदपोश आदमी से। इसका सही और माकूल जवाब राजी धोबन दे सकती है जिसने अपने जवान बेटे मीरजान को पहली लड़ाई में भेजा था और उसकी कटी टांगों के एवज में मिला तमगा वह 'में' को इसलिए दे देती है कि वह गली-मुहल्ले के लड़के तमाशे के तौर पर मीरजान का नाम पुकार कर उसे छेड़ते और चिढ़ाते हैं और उसके दिखायी दे जाने पर उसके ऊपर गुट्टियाँ फेंककर भागने लगते हैं। यह तमगा उसे किसी अंग्रेज अफसर के प्राण बचाने के लिए दिखायी गयी बहादुरी के लिए मिला है लेकिन लेखक ने बड़े सांकेतिक और कलापूर्ण ढंग से इसे स्पष्ट कर दिया कि जैसे इस तमगे का दिया जाना मीरजान की बहादुरी से अधिक अंग्रेजों की त्यागप्रियता का प्रमाण है। राजों की उपेक्षा और मीरजान तथा उसके उसी जैसे कुछ और साथियों की निरीहता के संदर्भ में तमगे बाँटने के समारोह का विस्तार से ब्योरा देकर लेखक उस तमगे की वास्तविकता और औक्रात को, वस्तुस्थिति में निहित विडंबना को, व्यंग्य की जिस सूक्ष्म अंतर्धारा के द्वारा उद्घाटित करता है उससे उसकी क्षमताओं के प्रति सहज आश्वस्त हुआ जा सकता है। 'मुर्गी की कीमत' का अहमदू अपनी जवान पत्नी और गोद की बच्ची को गाँव में छोड़कर, सीज़न में मेहनत-मजदूरी के ख्याल से खिलनमर्ग आता है। पाँच महीने की मेहनत के बाद सर्दियों की बर्फ का पहला छोट्टा जब सीज़न समाप्ति का संकेत बनकर सामने आता है तो वह घर लौटने की रोज़गार है। लेकिन पाँच महीनों की मेहनत के बावजूद उसके पास सिर्फ बारह आने पैसे बचते हैं। यदि खिलनमर्ग से गाँव तक वह बस में सफर करता है तो घर पहुँचते-पहुँचते उसके पास एक पैसा भी नहीं रह जाएगा। इतने दिन बाद घर लौटने पर वह बच्ची और पत्नी के लिए कुछ ले जाना भी चाहता है। दस-बारह साल की लड़की को जब वह मुर्गी बेचते देखता है तो उसकी बातों के सम्मोहन और अपनी बच्ची की खुशी के ख्याल से वह छह आने में उस मुर्गी को खरीद लेता है। बहुत खुशी-खुशी उस मुर्गी को उठाए वह पहले दस-बारह मील पैदल चलकर उस मुकाम तक आता है जहाँ से उसके गाँव से पहले बस रुकने पर चुंगी की पड़ताल शुरू होती है तो वह डर कर सहम जाता है।

उसने बताया जाता है कि लिए गए सामान पर महसूल लगता है। छह आने मुर्गी के और छह आने के टिकट के बाद उसके पास एक पैसा भी नहीं है जो महसूल अदायगी के तौर पर दिया जा सके। वह पछताता है कि बेकार ही बस में आया, जैसे दस-बारह मील पैदल चलकर चला जैसे ही दस-बारह मील और पैदल चुपके से खेतों-खेतों गाँव में घुस जाता तो यह मुसीबत क्यों आती। लेकिन पाँच महीनों से बच्ची और पत्नी को देखे बिना वह ऐसा उतावला कि बस में बैठ गया। तब रह-रहकर वह इस कल्पना पर भी खुश होता था कि मुर्गी को देखकर बच्ची कितनी खुश होगी। जब चुंगी का आदमी झांक-झांक कर बस में देखता है और सामान के महसूल के लिए लोगों को पुकारता है तो अहमदू सहम कर मुर्गी को लोई में छिपा लेता है। लेकिन फिर भी उसे डर लगता है कि कहीं बोलकर मुर्गी उस राज को न खोल दे। इस डर से वह मुर्गी को जोर से दबाता है कि थोड़ा बहुत बोलने की हालत में उसकी आवाज लोई में ही दबकर रह जाए। मुर्गी की क्षणिक कुड़कुड़ाहट को उसने सर्वनाश का क्षण समझा था और बाद में उसकी खामोशी पर वह बेहद खुश हुआ था। लारी चलने पर बाहर की सैनिक दिखायी देने लगती है। लोई का पल्ला ढीला करके अहमदू मुर्गी को देखकर आश्चर्य होना चाहता है। मुर्गी चुपचाप सोई पड़ी थी। लेकिन उंगली गड़ाने और बाहर की ताजी हवा के बावजूद जब उसके शरीर में कोई हरकत नहीं होती, बर्फ से सफेद पंख ढीले पड़े रहते हैं, तो भी अहमदू समझ नहीं पाता कि वह कुड़कुड़ाहट दम तोड़ती मुर्गी के आखिरी फरियाद थी। लोगों के पास इतना समय भी नहीं है कि वे एक जाहिल कश्मीरी हातो के रोने का सबब जानने की जहमत उठायें। क्लीनर बग रुकवाकर उसे धक्के देकर नीचे उतार देता है..... सड़क के इस हिस्से पर घुप अंधेरा था। लारी के चले जाने पर अहमदू स्तब्ध खड़ा रहा, फिर धीरे-धीरे पुल की ओर जाने लगा, जो सड़क के किनारे एक नाले पर बना हुआ था। थोड़ी देर तक वहाँ खड़ा रहने के बाद उसने वह परों की सफेद गोली-सी गेंद पुल के नीचे फेंक दी, और फिर घर की ओर जाने लगा। अब न उसके पास पैसे और न आगे के लिए कोई निश्चय करना बाकी थी.....³ कहानी में अकित विडंबना प्रेमचंद की 'पूस की रात' के बहुत निकट है। सब कुछ खोकर अहमदू की आश्वस्ति प्रेमचंद के हल्कू की मानसिकता के ही मूल में है कि खेत जला सो जला अब रात में जागकर देखभाल को तो कुछ नहीं है। 'मुर्गी की कीमत' में कश्मीर के हातों की गरीबी और विडंबनापूर्ण जिंदगी का अंकन जितने वास्तविक और संवेदनशील ढंग से हुआ है उसे देखकर आज आश्चर्य होता है। नयी कहानी से पहले, स्वयं उसके अपने दौर में और बाद में भी कश्मीर को लेकर लिखी गयी रूमानी कहानियों की भीड़ में 'मुर्गी की

कीमत' एक अपवाद जैसी लगती है। मोहन राकेश की 'कई एक अकेले' और 'कांपता हुआ दरिया' या कमलेश्वर के 'डाक बंमला' के साथ रखकर उसे देखने पर उसके वास्तविक महत्त्व को समझ पाना मुश्किल नहीं है। यह सचमुच एक विडंबनापूर्ण स्थिति थी कि सामाजिक यथार्थ की इस वस्तुपरकता का निषेध करके नयी कहानी क्रमशः आत्म-ग्रस्तता और अनुभववाद की सीमाओं में सिमटती गयी।

भीष्म साहनी की ये कहानियाँ यांत्रिकता से पर्याप्त बचाव करती हुई जिस सामाजिक मूल्य-दृष्टि की हिमायत करती हैं वह अंततः मानवीय श्रम और निष्ठा में गहराई से विश्वास रोपने वाली दृष्टि है। नयी कहानी जिस छद्म दार्शनिकता और बने-बनाये निष्कर्षों के विरोध को लेकर विकसित हुई थी, बिना किसी उत्तेजक और एकांगी घोषणा के, रचना के धरातल पर वह दृष्टि भी इन कहानियों में सक्रिय देखी जा सकती है। प्रायः ही ये कहानियाँ दो परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियों को लेकर बहस की शकल में लिखी गयी हैं जिनमें लोककथाओं का उपयोग भी लेखक वर्तमान की पूर्णता और उपयोगिता की कसौटी पर करता है। 'अनोखी हड्डी' में बहस कामना और संतोष के बीच है जिसमें विस्तारवाद के निषेध की ध्वनि स्पष्ट है क्योंकि कामना की प्यास कभी बुझती नहीं है। 'रानी मेहतो' कांगड़ा की एक लोककथा के बहाने, जनता के श्रम और निष्ठा की कमाई और उस पर मौज-मस्ती करने वाली सामंती दृष्टि की बहस उठाती है। बाणभट्ट की पत्नी रानी मेहतो जब तक अपने पति की तरह मानवीय श्रम की गरिमा में विश्वास करती है राज्य और परिवार में खुशहाली छाया रहती है लेकिन जब लोगों के उकसाने पर वह रानियों जैसे ठाट-बाट की जिद पर आमादा होती है, उसकी जिद पर राजा वह सब कर तो देता है लेकिन उसका संतोष और सुख उससे विदा हो जाता है। राजा प्यास से छटपटा कर मरने लगता है और रानी मेहतो जब डोल कुएं में डालती है तो डोल पानी को छू नहीं पाती क्योंकि पानी की संतह नीची होती जाती है। राजा को बेहाल और छटपटाते देखकर रानी पागलों की तरह अपने शरीर के जेवर उतारकर फेंकती जाती है। झोंपड़ी में फर्श पर राजा को छोड़कर वह पागल की तरह किले की दीवार पर चढ़कर डोल को पानी में लटकती है। इस बार डोल के उतरते ही पानी में फिर लहरें आने लगती हैं और पानी स्वच्छ एवं निर्मल होता जाता है। लेकिन जब रानी भागती हुई, पानी से छलकता डोल उठाकर झोंपड़ी में पहुँचती है तो 'राजा की देह शांत हो चुकी थी, उसके होंठ अब भी पानी की बूंद के लिए खुले पड़े थे और पथराई हुई आंखें झोंपड़े की छत को ताक रही थीं.....' इस दृश्य को देखते ही रानी पछाड़ खाकर मूर्च्छित

हो जाती है। जनता के श्रम और निष्ठा की कमाई पर मौज की इच्छा करने वाली रानी राजा की मृत्यु बनाम लोक-दृष्टि की बहस को केंद्र में रखकर विकसित होने वाली यह कहानी हमारे वर्तमान तक फैलती चली जाती है। 'खून के छीटे' नयी कहानी के अलिखित घोषणापत्र की उन शर्तों का संकेत देती है जिसके तहत जीवन के साक्षात्कार के बाद ही उस जीवन की रचना का विषय बनाए जाने की बात की गयी थी। भूख और गाँव की अकल्पित गरीबी के कारण ही आदमी अपने ही खून के प्रति किस सीमा तक क्रूर हो सकता है बाबू, इसे कहानी में वर्णित दोनों आदमियों को पास से देखने पर ही समझ पाता है। जाट की क्रूरता उसकी परिस्थितियों की देन है और उसका मानवीय सद्भाव अंततः उस क्रूरता पर विजयी होता है। इस जीवन का साक्षात्कार कर लेने पर ही गाँवों की भूख और गरीबी उसके लिए वास्तविक आकार ग्रहण कर पाती है। यह कहानी जैसे समूची नयी कहानी की रचना-प्रक्रिया का सूत्र हमारे आगे खोल देती है..... 'मीलों की दूरी तक सपाट मैदान फैले हुए थे, और कहीं-कहीं जाटों के फुटकर घर, ढलती धूप में शांत, मौन, चित्रवत नजर आ रहे थे। इतनी दूरी पर उनमें छिपी व्याकुलता का कोई आभ्रस न मिलता था।'.....⁵ यही दरअसल रचना की अंतर्वस्तु से प्रामाणिक पहचान की शुरुआत थी जिसे परवर्ती दौर में आत्मपरकता और अनुभववाद में बदल दिया गया। 'भाई-बंद' में बहस का मुद्दा शहरी चपरासी और ग्रामीण किसान की मानसिकता है। चपरासी किसान से चालीस रुपये लेकर बीस-बाईस बनाता है जब कि किसान रुपये की वसूली के लिए, 'मैं' के सुझाव पर भी, उसके अफसर से शिकायत करने को तैयार नहीं होता.....इससे उन दोनों की क्या रह जाएगी? कुछ हो, वह उसी के गाँव का अपना आदमी है। और फिर वह उस चपरासी को ढूढ़ने लगता है जो अभी थोड़ी देर पहले उसे पाँच रुपये दे रहा था जिसे उसके न लेने पर वह अपनी पेट्टी में टूस कर दफ्तर में जा चुका है। 'घर की इज्जत' में झूठी सामाजिक मर्यादा कथित मूल्यों के विरोध में खड़ी होती एक आत्मसजग युवती की तस्वीर है। इसी झूठी मर्यादा और उसके विकल्प के लिए संघर्ष की स्थिति सामाजिक विसंगतियों को बहुत तीक्ष्णता से उभारती है।

प्रेमचंद और यशपाल की तरह भीष्म साहनी ने भी अपनी कई कहानियों में धार्मिक एवं सांप्रदायिक दृष्टि की संकीर्णताओं और उसके जीवन-विरोधी स्वरूप को उद्घाटित किया है। यशपाल की तरह भीष्म साहनी भी आर्यसमाज की कट्टरता और प्रतिगामी भूमिका को अनेक कोणों से उभारते हैं और जीवन के स्वरूप-विकास में उसकी निषेधवादी भूमिका को रेखांकित करते हैं। 'पहला पाठ' और 'पाप-पुण्य' आर्यसमाजी

आचार एवं जीवन पद्धति के अंतर्विरोध सामने लाते हैं जबकि 'कांटे की चुभन' और 'एषधर्मः सनातनः' में क्रमशः धर्मिक स्पर्धा और किसी भी धर्म की अपेक्षा पेट और भूख के रिश्ते की पहचान का धर्म अधिक महत्वपूर्ण और स्थायी होने का सत्य उभर कर सामने आता है। 'पहला पाठ' के वानप्रस्थी जी भावविह्वल होकर अछूतोद्धार पर भाषण देते हैं। मैजिक लैंटर्न से अछूतों की दीन दशा के जो चित्र वह दिखाते हैं उनसे देवव्रत का बाल-मन प्रभावित रहे बिना नहीं रहता। शायद यह पहला मौका है जब बिना मार खाये उसने कुछ सीखा है। लेकिन ब्रह्मचारियों की टोली जब पंक्तिबद्ध होकर सड़क से गुजर रही होती है तो दीन-हीन चेहरे और उत्सुक आंखों वाले एक लड़के को देखकर देवव्रत को मैजिक लैंटर्न पर देखे गये अछूतों के चेहरे याद आ जाते हैं। उत्साह से आगे बढ़कर वह उस लड़के के कंधे पर हाथ रखकर उसे प्यार से संबोधित ही नहीं करता, उसे आलिंगन में भी ले लेता है। इस सबके बाद वह सहज हो सके इसके पहले ही वानप्रस्थी जी का जोरदार चांटा उसके मुंह पर पड़ता है। वह सोचता है कि पंक्ति बिगाड़कर अनुशासन तोड़ने के कारण शायद यह चांटा लगा है। लेकिन उसका यह भ्रम जल्दी ही टूट जाता है। क्रोध से कांपती देह को संभाल पाने में असमर्थ वानप्रस्थी जी कहते हैं..... 'यह अछूत है? यह तो मुसलमान है।'⁶ बिना पूछे भी लेखक का यह सवाल एक बहुत बड़े प्रश्नचिह्न-सा हमारे सामने उभरने लगता है कि देवव्रत का पहला पाठ वस्तुतः कौन-सा है? अछूतोद्धार का भावुक आख्यान या चांटा मारकर क्रोध से कांपती देह से दी गयी यह प्रतारणा? 'पाप-पुण्य' उस दृष्टि के निषेध की कहानी है जो बच्चों के मानसिक विकास की चिंता किए बिना तोंटे की तरह उन्हें वेदों के नाम और शिक्षाएं रटाने में गौरव समझती हैं। इस निषेधवादी शिक्षा के व्यर्थता इसी से स्वतःसिद्ध है कि बालमन के विकास पर उसका प्रभाव उससे एकदम उलटा पड़ता है जो वह डालना चाहती है।

भीष्म साहनी ने अपने बचपन के परिवेश पर आर्य समाजी चिंतन और आचरण के दुष्प्रभाव की चर्चा अलग-अलग संदर्भों में की है। लेकिन सवाल सिर्फ आर्यसमाज की ही संकीर्ण और सांप्रदायिक दृष्टि का न होकर समूची धार्मिक दृष्टि की संकीर्णता और उसके दुष्प्रभावों का है। 'कांटे की चुभन' में बाबू अनंतराम आर्यसमाजी हैं और गिरिधरदास सनातनी। परस्पर विरोधी धार्मिक विश्वासों के बावजूद उनकी 'मित्रता-शत्रुता' का यह संबंध वर्षों से चला आया है। बाद में अनंत राम की लड़की और गिरिधरदास के लड़के के पारस्परिक आकर्षण के फलस्वरूप जब विवाह उन दोनों की विवशता बन जाता है तो अनंतराम को यह बात कांटे की तरह चुभती रहती है

कि आर्यसमाजी होने पर भी उन्हें अपनी लड़की का विवाह सनातनी ढंग से करना पड़ा क्योंकि आखिर वह बेटी के पिता थे। गिरिधर की बुआ की मृत्यु पर, गिरिधर की भावाकुलता का लाभ उठाकर, वैदिक विधि से बुआ का संस्कार कराकर अनंतराम जैसे अपनी पिछली हार का बदला ले लेने में सफल होते हैं। धर्म यहाँ दो मित्रों को सजग प्रतिद्वंद्वी में बदल देता है जबकि जीवन के सहज विकास की दिशा में दोनों की ही व्यर्थता स्वतः सिद्ध है। 'एषधर्मः सनातनः' यशपाल के 'खच्चर और आदमी' की तरह, अंततः महंत रामदास को इस निष्कर्ष की ओर ले आती है कि सनातन धर्म की कथित मर्यादा से कहीं बड़ी मर्यादा मनुष्य के उस सनातन शाश्वत धर्म की है जो पेट और भूख के रिश्ते की उपेक्षा नहीं कर पाता।

थोड़ा आश्चर्यजनक होने पर भी यह सच है कि भीष्म साहनी की आरंभिक कहानियों में प्रेम और स्त्री-पुरुष की कहानियाँ करीब-करीब नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि इन कहानियों में स्त्री पात्र हों ही नहीं। लेकिन प्रेमिका के बदले वे माँ, पत्नी, बहू आदि के रूप में ही अधिक सामने आती हैं। 'नीली आंखें' स्त्री की सामाजिक असुरक्षा की पृष्ठभूमि में सामूहिक प्रतिक्रियाओं की कहानी है जिसमें स्त्री के जवान शरीर के प्रति पुरुष वर्ग की आंखों में लोभ और वासना की चमक खूब गहरी होकर उभरी है। 'पहिचान', 'ललिता' और 'फूला' में क्रमशः माँ की भमता पारिवारिक सुरक्षा के नाम पर स्त्री की अस्मिता का विलोपीकरण और बांझपन की पीड़ा आदि के चित्र हैं। 'प्रणय-लीला' ऊपर से प्रेम कहानी जैसी लगने पर भी प्रेम कहानी से भिन्न है। यह सुषमा द्वारा अशोक को अपनी 'स्वप्न क्रीडा का साधन मात्र' बना लेने के प्रयास की कहानी है। सुषमा अशोक को नहीं, उसके बड़े भाई को प्यार करती है। अशोक के प्रति उसके व्यवहार की मृदुलता के पीछे वस्तुतः प्रत्यारोपण का मनोविज्ञान है। अशोक में अपने प्रेमी की खोज मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुषमा को एक जटिल चरित्र के रूप में सामने लाती है। 'क्रिकेट मैच' मैदान में हो रहे मैच से अधिक दांपत्य संबंधों के क्रिकेट मैच की कहानी है। रमेश हर साल एक बच्चा पुष्पा की गोद में डालकर साल के काफी बड़े हिस्से के लिए उससे छुट्टी पा लेता है। पुष्पा के मायके अमीर हैं, सब पल जायेंगे। मैच देखते हुए पुष्पा की पक्षियों जैसी चहचहाट वास्तविकता के इस संकेत से गुब्बारे की हवा की तरह रिस जाती है। उसका चेहरा काला पड़ जाता है। रमेश के परिचितों के साथ की औरत की साड़ी का पल्ला जहाँ रमेश की आंखों में रोशनी भर देता है, पुष्पा के चेहरे का रंग उतार देता है। रमेश उसकी शोखी और सारे बड़बोलेपन को चुपचाप सहता रहता है क्योंकि उसे अपने मास्टर स्ट्रोक पर पूरा

भरोसा है। भीष्म साहनी 'दांपत्य' और प्रेम से अधिक स्त्री को उसके पूरे सामाजिक संदर्भ में देखने में अधिक रुचि लेते हैं। 'ललिता' की ललिता और 'क्रिकेट मैच' की पुष्पा जैसी स्त्रियाँ पुरुष शासित समाज में अपनी अस्मिता खोकर ही जीवित रह सकती हैं। लेकिन 'घर की इज्जत' की सुनंदा एक आत्मसजग युवती है जो झूठी मर्यादा के लिए अपनी कलात्मक सांस्कृतिक अभिरुचियों को दबाने और कुंठित किए जाने के प्रयासों का सक्रिय प्रतिवाद करती है।

इन आरंभिक कहानियों में 'पहला पाठ' की कई कहानियाँ कहानी के उस दौर में कहानी में घटित संक्रमण का संकेत देती हैं। 'समाधि भाई रामसिंह' 'कहानी' के सन् 55 के विशेषांक में प्रकाशित हुई थी और 'चीफ की दावत' 'कहानी' के ही सन् 56 के विशेषांक में। नयी कहानी के उदय की दृष्टि से सन् 56 के इस विशेषांक को आज भी लोग उसके ऐतिहासिक महत्त्व के लिए याद करते हैं। 'समाधि भाई रामसिंह' एक व्यक्ति के संदर्भ में नगर की व्यापक प्रतिक्रियाओं का रोचक अध्ययन है। भाई रामसिंह के चमत्कारी व्यक्तित्व, चोला बदलने की उनकी ऐतिहासिक घोषणा में दिए गए समय से निकल जाने पर नागरिकों के अधैर्य का ब्यौरा लेखक बड़ी रवानी के साथ देता है। इस विडंबना को वह खास तौर से रेखांकित करता है कि चोला बदलने में देर होने पर लोगों का अधैर्य इस सीमा तक बढ़ जाता है कि सारी संचित श्रद्धा उलटी दिशा में बहने लगती है और लोग गाली-गलौज पर ही नहीं बाकायदा ईट-पत्थरों पर उतर आए हैं। चोला वह बदलता नहीं, वे बदलवा देते हैं।.....'हाँ केवल उसकी देह, कीचड़ और मिट्टी और खून से लथपथ हो गयी थी और उसके ईद-गिर्द जूतों और पत्थरों का ढेर लग गया था, '..... जो लोग अधैर्य के कारण उसकी जान ले लेते हैं, वे ही लोग उत्साह के साथ उसकी समाधि ही नहीं बनवाते, नगर के दर्शनीय स्थल की हैसियत से उस पर गर्व भी करते हैं। इस तरह यह कहानी उस संक्रमण से अछूती है जिसे आधुनिकता और परंपरा की बहस के रूप में 'चीफ की दावत' में सहज ही देखा जा सकता है। इसमें एक ओर नये-नये आधुनिक बने बाबू शामनाथ और उसकी पत्नी है तो दूसरी ओर विसादृश्य के रूप में फालतू सामान की हैसियत में आ चुकी माँ है। विभाग के चीफ को दावत पर बुलाये जाने का उद्देश्य भी वही है जो देश के अधिकांश नवयुवकों की सबसे बड़ी लालसा होती है - अफसर को खुश करके नौकरी में पदोन्नति। शामनाथ सिगरेट पीते हुए माँ से बात करता है और संस्कार बन चुके उसके तौर-तरीकों को इसलिए नियंत्रित करना चाहता है ताकि अपने अधिकारी के आगे जगहेंसाई से बच सके। माँ एक

संस्कारशील वृद्धा है जिसने अपना सारा जेवर इसी लड़के की पढ़ाई के लिए बेच दिया है - भले ही उसका उल्लेख भी अब उसे नाखुश-वार हो। पास-पड़ोस की उसकी सहेलियों का आना भी आधुनिक बहू-बेटे को अच्छा नहीं लगता इसलिए उसे भी बंद किया जा चुका है। खाली समय में वह माला फेरती रहती है और जिस दिन घर में मांस-मछली बनता है, वह कुछ नहीं खाती। न ही कोई चिंता करता है कि उसके लिए अलग से कोई व्यवस्था कर दी जाए। शामनाथ का चीफ उसी की तरह आधुनिक है। सामने पड़ जाने पर वह मां से अंग्रेजी में हालचाल पूछता है और मिलाने के लिए हाथ बढ़ाता है। सीधे हाथ में माला पकड़े होने के कारण मां बायां हाथ बढ़ा देती है जिस पर झंप मिटाते हुए शामनाथ उससे सीधे हाथ मिलाने की बात कहता है। लेकिन आधुनिक लोगों में पुरानी - एंटीक - चीजों में बढ़ी हुई दिलचस्पी के कारण शामनाथ का यह अधिकारी मां से पुराने गीत गाने की फरमाइश कर बैठता है। स्थिति सुधरती देखकर शामनाथ उत्साहित होता है और उसे टप्पा गाने को उकसाता है।..... 'दो पत्तर अनारां दे.....' गाने के बोल पर अधिकारियों की आधुनिक पत्नियां जिस तरह हंसती हैं उसमें तिरस्कार की ध्वनि स्पष्ट है, चीफ फिर पुरानी पंजाबी कला की फरमाइश करता है। बहुत दूढ़ने के बाद मां की पुरानी फुलकारी उसे दिखायी जाती है। उसे प्रसन्न देखकर शामनाथ उत्साहित होता है और उसके लिए मां से वैसी ही फुलकारी तैयार करा देने का आश्वासन देता है। अधिकारियों को विदा करके लड़खड़ाते कदमों से शामनाथ मां की कोठरी में जाता है और जिस नंग को फालतू सामान समझकर वह छिपाने के लिए परेशान था, वह अब उसे कैरियर की मजबूत सीढ़ी नजर आती है। उसके फुलकारी बना देने के आग्रह को पहले तो वह अपनी उम्र और आंखों का वास्ता देकर टालती है लेकिन फिर लड़के की उन्नति की बात जानकर, मुंह से दुआएं निकालती हुई, खुशी-खुशी तैयार हो जाती है। इस तरह 'चीफ की दावत' संक्रमण और मूल्य-दृष्टियों के संघर्ष के दौर में, अतिरेक और अनावश्यक उत्साह से बचकर, बहुत संतुलित और संयत ढंग से, परम्परा में जो कुछ स्पृहणीय एवं रक्षणीय है उसे उपेक्षा, तिरस्कार और भर्त्सना से बचाने पर बल देती है। 'टप्पा' और 'फुलकारी' इसी परंपरा के वे सार्थक तत्त्व बन जाते हैं जिनकी रक्षा का सवाल सीधे हमारे अस्तित्व से जुड़ जाता है।

भीष्म साहनी की कहानियां सोद्देश्यता के बावजूद अपनी प्रकृति में यशपाल की कहानियों से भिन्न हैं। वह यशपाल की तरह 'आइडिया' को आधार बनाकर कहानी नहीं लिखते। उनके यहाँ चरित्र अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं लेकिन फिर भी वह

यशपाल की इस आशंका को प्रायः निरस्त करते दिखायी देते हैं कि चरित्रों को आधार बनाकर लिखी गयी कहानियाँ अपनी प्रकृति में कहानी की अपेक्षा रेखाचित्र के अधिक निकट जा पड़ती हैं। भीष्म साहनी जीवन के प्रवाह को पकड़ने की कोशिश करते हैं। इसी कारण यदि उनकी कहानियाँ यांत्रिक और बने-बनाये निष्कर्षों से बहुत कुछ मुक्त रहती हैं तो प्रायः ही वे प्रभाव की दृष्टि से उतनी तीखी प्रतिक्रिया छोड़ पाने में भी असफल रहती हैं जो यशपाल की सफल कहानियों का आधारभूत वैशिष्ट्य है। चरित्रों को लेकर कहानियों को शीर्षक देने की प्रवृत्ति भीष्म साहनी के यहाँ 'पहला पाठ' से ही शुरू हो जाती है और यह प्रवृत्ति उनके अब तक के अंतिम संग्रह 'पाली' की कहानियों तक देखी जा सकती है। 'रानी मेहतो', 'ललिता', 'फूला', 'बीवर', 'वाडजू', 'रामचदानी', 'चाचा मंगलसेन', 'सलमा आपा', 'जहूरबख्श' आदि कहानियाँ उनकी इसी प्रवृत्ति को उदाहृत करती हैं। पात्रों को आधार बनाकर लिखी गई ये कहानियाँ निश्चय ही अपनी प्रकृति में रेखाचित्र नहीं हैं क्योंकि भीष्म साहनी इन पात्रों को व्यक्ति से अधिक एक वर्ग विशेष के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उस पात्र के अपने वर्ग की आधारभूत विशेषताएँ तो उभरती ही हैं, दृष्टि और मूल्यों के संघर्ष की प्रक्रिया में प्रतिपक्षी वर्ग की विशेषताओं का उद्घाटन उस मूल्य-दृष्टि के निर्माण में भी सहायक होता है जो लेखक के लिए स्पृहणीय लगती है और जो उच्च समाज-व्यवस्था के निर्माण में सहायक होती है जिसके प्रति लेखक एक रचनाकार के रूप में, दूर तक समर्पित और प्रतिबद्ध है। रानी मेहतो एक स्त्री विशेष से अधिक यहाँ इस प्रवृत्ति का उदाहरण बन जाती है जिसे पति को खोकर यह बोध हो जाता है कि श्रम और निष्ठा की कमाई ही सुख और शांति ला सकती है। जनता के श्रम को अपनी विलासिता का साधन बनाकर उससे भिन्न और किसी अंत की कल्पना नहीं की जा सकती जो उनका अपना अंत होता है। 'बीवर' इसी नाम के एक कुत्ते के संदर्भ में सफेदपोश मध्यवर्गीय चरित्र के वर्ग-वैशिष्ट्य को उदाहृत करने वाली कहानी है। एक ओर बीवर है जो अपने खून में घुली वफादारी को प्रमाणित करने के लिए बार-बार मालिक के यहाँ लौट आता है और दूसरी ओर सफेदपोश मालिक है जो अब उसकी बीमारी के दौरान उससे अपना कोई संबंध बनाने में संकोच अनुभव करता है। चुंगी के लोग जब उसे लावारिस समझकर पकड़ रहे होते हैं तो वहाँ होते हुए भी उसे यह कहने का साहस नहीं होता कि वह उसी का कुत्ता है, 'वे बीवर को ले गए। मैं वहीं खड़ा रहा। बीवर जाने से पहले मेरी ओर देख रहा था। क्षणभर के लिए हमारी आंखें भी मिलीं। उसकी आंखें मानो कह रही थीं, मालिक क्यों मैं आपका कुत्ता नहीं हूँ? आप यूँ भी

मुझे इन कसाइयों के हवाले कर देते, तो क्या मैं कुछ कहता ? इनकार करना तो मेरे खून में ही नहीं है।... फिर उसने गर्दन फेर ली और धीरे-धीरे उनके पीछे सिर झुकाये जाने लगा⁸ वाड्चू और रामचंदानी जैसे लोग उस व्यवस्था पर एक अर्थपूर्ण टिप्पणी हैं जो अपनी सहजता और सादमी के कारण ही आज पूरी तरह बेमेल और हास्यास्पद हो चुके हैं। वाड्चू के लेखक जैसे इस सत्य को रेखांकित करना चाहता है कि राष्ट्रों के राजनीतिक वर्चस्व के इस युग में, चाहे वह भारत हो या चीन, उनकी आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों की ओर से उदासीन रहने का मूल्य इससे भिन्न और कुछ संभव ही नहीं है। उसकी सबसे बड़ी विडंबना यह है कि न तो वह इनसे बच पाता है और न ही इनकी अनिवार्यता की किसी तार्किक परिणति तक अपने को पहुंचा पाता है। रामचंदानी एक गांधीवादी पात्र है लेकिन लेखक उसके अंदर सक्रिय मूल्य-दृष्टि की सूक्ष्म अंतर्धारा को अपने उन युवा मित्रों से कहीं अधिक वरीयता देता है, जो एक बृहदाकार शून्य पर खड़े हैं। रंगभेद के विरोध में वह होटल की अंग्रेज मालकिन की व्यवस्था को स्वीकार न करके होटल के बैरों और व्यंजनों को वापस कर देता है। मालकिन से बात कर लेने के बाद, स्थिति स्पष्ट हो जाने पर, अपने मित्र द्वारा कॉटेज का, पूरे सीजन का किराया दे चुकने के बावजूद वह उस स्थान को छोड़ देता है। मित्र समझते हैं कि उससे पट्टे के साधारण कोट, थैले जैसी पतलून और बेहद मामूली रख-रखाव के कारण ही शाब्द होटल की मालकिन ने उन लोगों का अपमान किया है। लेकिन कहानी में कुशलता से बुने गए संकेत इसे अस्पष्ट नहीं रहने देते कि युवा मित्रों के साहबी तौर-तरीकों और भड़कीले लिबास के बावजूद मूल्यों को लेकर कैसा भी समझौता न करने की रामचंदानी की प्रवृत्ति उन सब पर भारी पड़ती है। चार में से एक मित्र मुख्तार रामचंदानी के आग्रह की उपेक्षा करके अकेले वहाँ रुक जाता है। लेकिन होटल की मालकिन के उसे घर के लिए भी खाना देने को तैयार न होने पर, उसे मजबूरन वहाँ जगह छोड़ देनी पड़ती है। यानी रंगभेद और तिरस्कार सहकर भी जहाँ मुख्तार समझौते के लिए तैयार है, रामचंदानी एक ही झटके में उसे तोड़ देता है। पूरी कहानी में औरों के मुकाबले यह मुख्तार ही उसका सबसे ज्यादा मजाक उड़ाता और फत्तियाँ कसता है। अपने अकेले रह जाने और होटल की मालकिन के इनकार कर देने वाला प्रसंग, वह लौटकर लेखक मित्र को सुनाता है और इस स्थिति के लिए भी वह रामचंदानी को ही दोषी ठहराता है..... 'मुख्तार यह किस्सा सुनाते हुए भी रामचंदानी को क्रोसता रहा'⁹ लेकिन कहानी के अंत में लेखक की यह टिप्पणी स्पष्ट कर देती है कि वस्तुतः रामचंदानी क्या है और उसे कोसने वाला मुख्तार क्या

है। इसी तरह सलमा आपा और ज़हूरबख्श यदि सांप्रदायिक सदभाव के प्रतीक बन जाते हैं तो चाचा मंगलसेन समाज के व्यापक प्रवाह से जुड़ने की मानवीय इच्छा और जिजीविषा का। अपनी इस इच्छा और व्यवहार के परिणामस्वरूप ही वह अपने बुढ़ापे को एक नया अर्थ दे पाने में सफल होता है - और उसका अंतं निर्मल वर्मा की 'सुबह की सैर' के अवकाश प्राप्त कर्नल निहालचंद की तरह अकेलेपन की यातना और आत्महत्या में नहीं होता।

भीष्म साहनी के यहां यह एक आश्चर्यजनक स्थिति है कि लंबे प्रवास के बावजूद उनके यहां विदेशी पृष्ठभूमि की कहानियां नहीं के बराबर हैं। दरअसल उनके यहां इतनी बड़ी संख्या में बूढ़े पात्रों की उपस्थिति और विदेशी पृष्ठभूमि के प्रति काफी कुछ एक उदासीन रवैया एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह अपने देश और धरती के प्रति उनके गहरे लगाव का परिचायक है। अपने बूढ़े पात्रों द्वारा, जिनमें स्त्रियाँ ही अधिक हैं, वह अपनी जड़ों से जुड़े रहने की कोशिश तो करते हैं, उस लोक-तत्त्व की रक्षा में भी सफल होते हैं जो अंगली पीढ़ी को संस्कार देता है। 'चीफ की दावत' की मां की चर्चा की जा चुकी है। 'भटकती राख' की दादी-मां, 'एक रोमांटिक कहानी' की दादी, 'गीता सहस्रनाम' की बूढ़ी चाची और 'यादें' की दोनों बूढ़ी स्त्रियां आदि पात्र अपनी जड़ों से भीष्म साहनी का रिश्ता कभी टूटने नहीं देते। आधुनिकता की प्लावनकारी बाढ़ में यह पात्र संहज ही एक मजबूत बांध की शक्ति में हमारे सामने खड़े दिखायी देते हैं। अपनी धरती और मिट्टी के संस्कार भीष्म साहनी के यहाँ इतने सघन रूप में उपस्थित हैं कि अपनी कहानियों में विदेशी पृष्ठभूमि के प्रति कहीं कोई मोह उनमें दिखायी ही नहीं देता है। अपवाद के तौर पर जो बहुत थोड़ी-सी विदेशी पृष्ठभूमि वाली कहानियां उनके यहां मिलती भी हैं उनमें न तो वह निर्मल वर्मा और रामकुमार की तरह विदेशी जीवन-पद्धति और प्रेम संबंधों के चित्रण का कोई आग्रह दिखाते हैं और न ही उषा प्रियंवदा की तरह दो संस्कृतियों के संघात और संघर्षण को कहानी के केंद्रीय विषय के रूप में इस्तेमाल करते हैं। उनकी इन कहानियों में 'लेनिन का साथी' इस प्रवृत्ति पर एक हलका-सा व्यंग्य है कि अपनी बेहद साधारण हैसियत को भी लोग ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ जोड़कर कैसा उपयोग करना चाहते हैं। इससे भिन्न 'ओ इरामज़ादे' यूरोप के दूर-दराज में भी आदमी के अपनी जड़ों से कट जाने की पीड़ा को उद्घाटित करती है। अपनी विदेशी पत्नी और जवान बेटियों के साथ लाल मिर्वासितों की तरह अपना जीवन काट रहा है। वर्षों पहले कभी वह अपनी पत्नी हेलेन को लेकर भारत गया था। दो जीवन पद्धतियों के अंतर को

ठीक से समझ न पाने के कारण हेलेन के साथ ऐसा कुछ घटित हुआ जिसके परिणामस्वरूप उसकी धरती और देश उससे हमेशा को छूट चुके हैं। अपनी जड़ों से कटकर, अपने भरे-पूरे परिवार में भी, वह एक ऐसी रिक्तता महसूस करता है जिसका कोई विकल्प नहीं है। हेलेन उसकी इस मनःस्थिति को समझती नहीं है, उसे लेकर एक अपराध-बोध से भी पीड़ित है क्योंकि इन सबके लिए वह अपने को दोषी मानती है। इसीलिए कभी-कभार वह, अपरिचित होने पर भी, उत्तर भारतीय प्रवासियों को अपने घर ले जाती है ताकि उनसे बोल-बतियाकर उसका पति अपनी जड़ों से जुड़े होने का संतोष पा सके। कहानी का 'मैं' एक ऐसा ही प्रवासी भारतीय है जिसे लाल देर तक अपने वनन जालंधर में बीते जीवन के संस्मरण सुनाता रहता है। 'मैं' स्वयं भी जालंधर का है, इस नाते यह आत्मीयता और भी जड़ें जमाती सी लगती है। अपनी जवानी के दिनों में मित्रों के बीच प्रचलित 'ओ हरामज़ादे' का संबोधन आज भी उसके लिए एक ललक बनकर टीसता है - जैसे संबोधन का कोई बहुत सीधा ताल्लुक उसकी अपनी अस्मिता और जड़ों से है। विदा के लिए छोड़ने आने पर लाल अपने हमवतन प्रवासी से बहुत आत्मीय लहजे में कहता है, 'यह मत समझना कि मुझे कोई शिकायत नहीं है, अगर शिकायत है तो अपने आपसे.....'¹⁰ और फिर वह हंसते हुए बताता है कि बुढ़ापे में भी उसकी यह इच्छा भरी नहीं है कि सड़क पर चलते हुए अचानक कहीं से 'ओ हरामज़ादे' की आवाज आये और वह लपककर उस आदमी को छाती से लंगा ले। लेकिन यह बात वह हंसते हुए शुरू करता है, और उसके समाप्त होते-होते उसकी जबान लड़खड़ाने लगती है। जबान की यह लड़खड़ाने और स्वर का भीगापन ही वस्तुतः जड़ों से कट जाने की उसकी पीड़ा का साक्ष्य बन जाता है जिसका कोई विकल्प उसके आगे बचा नहीं है। इसी का दूसरा पहलू 'मेड इन इटली' की मीरा है जो रोम के ऐतिहासिक स्थलों और खंडहरों को देखकर समय बर्बाद करने की अपेक्षा शॉपिंग में अधिक दिलचस्पी लेती है ताकि भारत लौटकर अपने मित्रों और पड़ोसियों पर वह विदेशी सामान का रोब गालिब कर सके। एक बहुत सुंदर बैग लेकर जब वह दूकान से चलती है तो यह कल्पना उसे सुखद लगती है कि उसकी सखियाँ इसे देखकर क्या सोचेंगी और कहेंगी। उसकी कल्पित सराहना से ही उसे सुरूर चढ़ने लगता है। लेकिन तभी अंदर की तहों को हटाते-देखते उसकी निगाह उस चिप्पी पर पड़ जाती है जिस पर उसके भारत में बने होने की सूचना लिखी है। बहुत दूर पहुँच जाने और दूकान बंद हो चुकने की आशंका के बावजूद वह लौटकर आती है। दूकानदार की मीठी-मीठी बातें सुनकर उसकी वापसी के बदले यह विकल्प निकालकर खुश होती है कि वह उस लेविल को

निकालकर टोपी का लेबल वहाँ 'लगा' दें जिस पर 'मेड इन इटली' लिखा है, आश्चर्य होते हुए भी उसे इसमें कोई आपत्ति नहीं होती। फिर लगे हाथों वह कुछ अतिरिक्त मूल्य देकर कुछ और लेबल भी ले लेती है ताकि अपनी इच्छा से वह उन्हें कहीं भी लगा सके "थोड़ी देर बाद बैग फिर से कंधे से लटकाये मीरा दूकान में से निकली। बाहर कदम रखते ही वह बड़बड़ायी, वक्त पर न देख लेती तो यह काम भी न हो पाता" फिर खीझकर बोली, 'मुये अब सभी कुछ हिंदुस्तान में बनाने लगे हैं।'"

भीष्म साहनी की कहानियों में वर्ग चेतना का स्वरूप और निम्न मध्यवर्गीय पात्रों में वर्ग-संक्रमण की लालक बहुत स्पष्ट है। लेकिन फिर भी वे घटनाओं और पात्रों के सीधे, इकहरे और यांत्रिक विकास एवं विन्यास की कहानियां नहीं हैं। यही कारण है कि परस्पर विरोधी वर्गों का संघर्ष और विचार-संरणियां उनके यहाँ बहुत विश्वसनीय लगती हैं। 'हमला', 'सागमीट', 'मुर्ग-मुसल्लम' और 'अपने-अपने बच्चे' यदि वर्ग-चेतना की अभिव्यक्ति और लेखक की सामाजिक-प्रतिबद्धता की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहानियां हैं तो 'पटरियां' और 'लालक' जैसी कहानियां वर्गसंक्रमण की उस लालसा को केंद्र में रखती हैं जो भौतिक समृद्धि की दिशा में किसी मूल्य-दृष्टि के नियंत्रण से इनकार करती है। 'हमला' का अध्यापक प्रधान के लड़के को कक्षा में पीट नहीं पाता क्योंकि पीटे जाने पर वह अपने पिता से शिकायत की धमकी देता है। बाद में वह अध्यापक शिकायत करने के इरादे से ही वहां पहुंचता है, लेकिन अपनी हीन सामाजिक स्थिति के परिणामस्वरूप वह अपनी बात कह नहीं पाता। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करने के बाद हाथ जोड़कर कहता है कि यूँ ही चला आया था और प्रधान को उसके पुत्र का विशेष ध्यान रखने का आश्वासन देना भी नहीं भूलता। इस प्रकार इमला की गलतियों पर छात्रों को पीटने वाला अध्यापक, जो अपनी कड़ाई और अनुशासन के लिए प्रसिद्ध है, उस छोटे लड़के से स्वयं इमला लिखना शुरू कर देता है। 'सागमीट' नौकर और मालिक के वर्गीय चरित्रों के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। 'अपने-अपने बच्चे' दो बच्चों और उनके अभिभावकों के माध्यम से उच्च, मध्य और निम्नवर्ग की एक समानांतर तस्वीर है। कहानी में दो वर्गों और उनके परिवारों का अंकन बहुत तटस्थता और वस्तुपरकता के साथ हुआ है। मालकिन के परिवार में मानवीय करुणा और सदाशयता की लेखक कहीं भी अनदेखी नहीं करता। साहब तो जैसे साहब हैं ही नहीं। उनकी खुशमिजाजी के कारण निक्कू बहुत जल्दी ही उनसे दोस्ती गांठ लेता है। लेकिन फिर भी कहानी का निष्कर्ष उससे जरा भी भिन्न नहीं है जो कोई भी दूसरा उत्साही लेखक अपने पूर्व निर्धारित अंत से

निकालता या निकालना चाहता। अपने से नीची सामाजिक हैसियत के प्रति घृणा और ऊंची हैसियत के लोगों के प्रति स्पर्धा के परिणामस्वरूप वर्गसंक्रमण की लालसा की दृष्टि से 'ललक' और 'पटरियाँ' उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। 'पटरियाँ' के केशोराम को लगता है कि जैसे उसके पूरे जीवन की लंबाई के समानांतर वर्गों की पटरियाँ दूर तक चली गयी हैं। कटरा राघोमल उसके लिए एक वर्ग का प्रतीक है तो लाजपत नगर दूसरे वर्ग का, जहाँ उसके पेंशनयाप्तता ससुर की कोठी है उसके साढ़ू के प्रति उनका भिन्न किरम का बर्ताव है। लेकिन यदि थोड़ी भी उम्मीद दिखायी देती है तो उसकी रगों में खून की हरकत बढ़ जाती है। छोटे से धधे की मामूली-सी उपलब्धि उसकी आंखों में सपनों की चमक पैदा करने के लिए काफी है.... और शरीर में खून ठाठें मारने लगता। उसे लगा कि जैसे टूटे सपनों के टुकड़े, जो इधर-उधर बिखरे गए थे, फिर से जुड़ने लगे हैं और कटरा राघोमल पीछे छूटता जा रहा है और बस लाजपत नगर की ओर बढ़ी जा रही है।¹² ...वर्ग-भेद की समानांतर पटरियों वाली यह चेतना 'ललक' में भी है। यदि एक ओर 'मैं' तो दूसरी ओर हरदेव, मंगत और उनका सुविधाओं में डूबा परिवार। लकड़ी के बिना निवाड़ के डंडे से हॉकी खेलते हुए 'मैं' के हाथ की झनझनाहट वस्तुतः उसकी वर्ग स्थिति की चेतना ही है जो हरदेव के पिता द्वारा 'मैं' और उसके साथियों को 'पाजामा पार्टी' संबोधन से और तीखी हो जाती है। हरदेव का पिता फाउल खेलने पर भी अपने बेटों को शाबाशी देकर 'मैं' का हीनता-बोध और बढ़ा देता है। लेकिन वापसी में यही 'मैं' बेगुनाह बूढ़े की झोंपड़ी पर हॉकी से प्रहार करके और जलती कुप्पी से उस गिरी हुई झोंपड़ी में आग लगाकर जिस अमानवीय सुख में डूबने लगता है वह अपनी प्रकृति में हरदेव और उसके पिता के सुख से बहुत भिन्न नहीं है। शायद इसीलिए रह-रहकर उसे यह भी लगता रहता है कि बूढ़े की चीख-पुकार के बीच हरदेव का पिता उसे इस सबके लिए शाबासी दे रहा है।

भीष्म साहनी के यहाँ राजनीति की उपस्थिति नारे की अपेक्षा रचना को अनुशासित करने वाली दृष्टि के रूप में अधिक है। 'मूर्ग-मुसल्लम' जैसी कहानियाँ उनके यहाँ अपवाद जैसी हैं जहाँ शोषित ओर सर्वहारा के कौण से वह मौजूदा राजनीति के जनविरोधी चरित्र पर कोई तीखी टिप्पणी करते हैं। उनके यहाँ राजनीतिक विकृतियाँ और उनसे जन्मी विद्रूपताएं बृहत्तर सामाजिक विसंगतियों और छद्म का हिस्सा ही अधिक है। यहाँ भी वह स्थितियों पर सीधी टिप्पणी कम करते हैं, व्यंग्य द्वारा उन स्थितियों में व्याप्त विसंगतियों का उद्घाटन अधिक करते हैं। 'नया मकान', 'मौकापरस्त'

'निशाचर' और 'पोखर' आदि सामाजिक-राजनीतिक विद्रूपताओं के अंकन की दृष्टि से उल्लेखनीय कहानियां मानी जा सकती हैं। प्रकृति में थोड़ा भिन्न होते हुए भी 'अमृतसर आ गया...' को भी इन्हीं में शामिल करके देखा जा सकता है।

'नया मकान' उस छद्म क्रांतिकारी चेतना को उद्घाटित करने और गहवाई से छीलने वाले व्यंग्य की कहानी है जिसमें आदमी सारी सांसारिक सफलता और दुनियादारी के बीच भी यह भ्रम पाले रहता है कि वह क्रांति के लिए ही बना है। जब ऐसा होता है तो आदमी गिरिजा की तरह अपनी नयी आलीशान कोठी में भी एक इनकलाबी कोठरी बनवा लेता है और अपने पुराने दोस्तों के बीच, शराब के नशे में, अपनी लानत-मलामत करते हुए अपने अंदर अभी भी क्रांति के स्फुलिंग बचे रहने को प्रमाणित करना चाहता है। 'मौका परस्त' में व्यंग्य का इस्तेमाल और भी सर्जनात्मक धरातल पर हुआ है। उसमें एक हरफनमौला किस्म के आदमी की बड़ी जीती-जागती तरवीर हमारे सामने उभरती है, हमारे देश की राजनीति में जिनकी संख्या बहुत तेजी से बढ़ी है, जो रास्ता चलते बूचड़-खनने को ले जायी जाती बकरियों को बच्चों द्वारा खेल-खेल में दुह लेते देखकर शंभू की अर्थी का बड़ा मौलिक उपयोग करता है। टूक, जुलूस, लाउडस्पीकर और नारों के बीच वह उसे एक शहीद की हैसियत तक उठा देता है। हरनारायण के चुनाव अभियान में शंभू की अर्थी का यह उपयोग रामदयाल को आज की भारतीय राजनीति के प्रतीक-पुरुष का दर्जा दिलाने को काफी है। अंत में सारी स्थिति पर संतोष व्यक्त करते हुए वह कहता है..... 'हमसे जो बन पड़ा हमने कर दिया। दुश्मन के गढ़ को तोड़ आये और क्या कर सकते थे! हमारे लिए तो उनके इलाके में घुसना मुश्किल हो रहा था। सब मौके-मौके की बात है!'¹³ वस्तुतः राजनीति के इस अवसरवादी जन-विरोधी चरित्र ने ही देश की जनता को 'निशाचर' और समूचे देश को एक 'पोखर' में बदलकर रख दिया है।.....आधी रात के सन्नाटे के बाद, धुंध और कोहरे के बीच, प्रायः हर रात प्रकट होने वाले प्रेतों में केशरो और उसकी बेटी की तरह और भी बहुत-सी औरतें होती हैं जो रद्दी कागज, दफ्ती के टुकड़े और अधजले कोयले आदि बटोरने के मुहिम पर निकल पड़ती हैं। गयी रात और दिन निकलने के बीच अपनी कार्रवाई करने के कारण ही वे वस्तुतः निशाचर हैं। रात में सड़क साफ करता जमादार पहले पहुँचकर कागज के चंद टुकड़े इकट्ठे करके आग बनाकर खुद को गरमा लेने की कोशिश करने पर इन्हें अपना सबसे बड़ा शत्रु नजर आता है। जबकि अपने को इस स्थिति में पहुँचा देने वाले वास्तविक शत्रु की उन्हें कोई चेतना ही नहीं है। 'पोखर' में रेल का डिब्बा हमारे पूरे देश का प्रतीक

बन जाता है जो दुर्गंध, गंदगी और बजबजाहट से सचमुच ही एक पोखर की हैसियत को पहुंच गया है। सुविधा और सुरक्षा में जड़े 'महानुभाव' अपनी दक्षिण यात्रा के संस्मरण भावविभोर होकर सुनाते हैं और एलोरा की गुफाओं में बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मों की मूर्तियों के सहअस्तित्व की व्याख्या धार्मिक सहिष्णुता और राष्ट्रीय एकता के रूप में करते हैं। डिब्बे के वॉशबेसिन की तरह पूरे देश को पोखर बना देने वाले लोग ही वस्तुतः भावुक होकर सुविधा, सुरक्षा और सहिष्णुता की बात कर सकते हैं क्योंकि इसी में उनके वर्गहित सुरक्षित हैं।' - उन्होंने फिर नीचे की ओर कनखियों से देखा। मुसाफिर अस्तव्यस्त एक दूसरे में उलझे हुए नींद में बेहोश पड़े थे। हलकी-हलकी, मीठी-मीठी भावना की लहरियां अभी भी उनके अंदर बराबर उठती जा रही थीं और इन लहरों पर तिरती हुई किसी कविता की दो पंक्तियां उभर कर आयीं और गाड़ी की लयबद्ध खट-खट के साथ मस्तिष्क में गूजने लगीं.... कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी/ सदियों रहा है दुश्मन दौरें जहाँ हमारा....और गद्गद ने अपनी टांगें लंबी कर लीं.....¹⁴ समूचे राष्ट्र के संदर्भ में जैसे लेखक इस वास्तविकता को रेखांकित करना चाहता है कि अस्तव्यस्त और एक दूसरे में व्यस्त मुसाफिरों - जनता - के सोने तक ही इनकी वह हस्ती मिटने से बची है जिसे सदियों से आज तक कोई नहीं मिटा सका है।.....

देशविभाजन की त्रासदी से बहुत सीधे रूप में जुड़े होने पर भी उसका रचनात्मक उपयोग भीष्म साहनी ने अनुपाततः बहुत कम किया है। लेकिन उपन्यासों में 'तमस' और कहानियों में 'अमृतसर आ गया....' जैसी चीजें उनके यहाँ सिर्फ अपवादों के उदाहरण के रूप में ही उल्लेखनीय नहीं हैं। यहाँ भीष्म साहनी सांप्रदायिकता के मूल उत्स की खोज करते हैं और उसके विकास की स्थितियों को बहुत बारीकी से विश्लेषित करते हैं। 'अमृतसर आ गया....' में, भीष्म साहनी की कुछ और श्रेष्ठ कहानियों की तरह ही, प्रतीकों का कलात्मक संयत उपयोग देखा जा सकता है। गाड़ी के डिब्बे में बैठे लोग पीछे छूटे और आगे आने वाले स्टेशनों के नामों से अपने को अनुशासित करते हैं। वजीराबाद में जो मरियल सा बाबू पठानों के हर हंसी-मजाक को हंस-हंसकर बर्दाश्त करता है, उनसे 'दालखोर' और 'खंजीर के तुख्म' सुनकर भी खामोश रहता है, अमृतसर के पास गाड़ी के पहुँचने पर वही हाथ में लोहे का सरिया लेकर बड़ी आसानी से हिंदुओं का संरक्षक बन जाता है। थुलथुल सरदार जो पहले पठानों की बातों पर हंसता और दांत चियारता था, अब उस मरियल से बाबू की प्रशंसा में कसीदे काढ़ने लगता है। सरदार द्वारा की गयी उसकी तारीफ पर

लेखक की टिप्पणी है, 'बाबू जवाब में मुंसकराया - एक बीभत्स-सी मुसकान और देर तक सरदार के चेहरे की ओर देखता रहा....'¹⁵ पठानों की हंसी-मजाक और बात-बात में गालियों का उच्चारण, उनकी पोटली में उबले बंधे गोश्त की तरह ही उनके तौर-तरीकों का हिस्सा अधिक है साम्प्रदायिक विद्वेष जैसा उसमें कुछ नहीं है। वजीराबाद में हिंदू मुसाफिर को मारी गयी लात, जो उसकी पत्नी को लगती है, कैसी भी सांप्रदायिक तनाव से अधिक डिब्बे में बैठे मुसाफिर की सुविधा वाली मानसिकता के ही अधिक निकट है। इसके विपरीत बाबू की बीभत्स हंसी, हंसी से अधिक उसके कर्म पर टिप्पणी है जिसका परिणाम वह हंसी है।...

भीष्म साहनी की कहानियाँ जीवन से बहुत सीधे तौर पर जुड़ी कहानियों के उदाहरण हैं। राजनीति के कैसे भी स्थूल और क्रूड उपयोग के बदले वे जीवन की सार्थकता और भावात्मक समृद्धि की आकांक्षा का प्रतिफलन अधिक हैं। खुली और फैली हुई जिन्दगी को उसकी पूरी जीवंतता और गतिमयता के साथ अंकित करती हैं। नयी कहानी की अनेक रूढ़ियों से वे आश्चर्यजनक रूप से मुक्त हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों और प्रणय कहानियों के उस दौर में उनके यहाँ उस तरह की कहानियों की एकांत अनुपस्थिति सचमुच ही चकित करने वाली है।

भीष्म साहनी का गद्य एक ऐसे गद्य का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करता है जो जीवन के गद्य का एक खास रंग और चमक लिए है। उसकी शक्ति के स्रोत काव्य के बाह्य उपकरणों से अधिक जीवन की जड़ों तक उनकी गहरी पहुँच है। भीष्म साहनी को कहीं भी भाषा के कलाबत्तू काढ़ने की जरूरत नहीं होती। लेकिन काव्य-तत्त्वों की अकारण घुस-पैठ के बिना भी उनका गद्य कवित्व हीन, स्थूल और ठस गद्य नहीं है। सुडौल और खूब पकी ईंट की खनक ही उनके गद्य की एकमात्र पहचान है।....

संदर्भ

1. भीष्म साहनी के 5 दिसंबर, 1981 के पत्र से
2. 'पहला पाठ' के दूसरे संस्करण में उसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन वर्ष 1957 दिया गया है।
3. भाग्यरेखा, पृ. 75
4. पहला पाठ, पृ. 26

5. भाग्यरेखा, पृ. 132
6. पहला पाठ, पृ. 37
7. वही, पृ. 66
8. भटकती राख, पृ. 46
9. शोभा-यात्रा, पृ. 82
10. वाडचू, पृ. 31
11. शोभा-यात्रा, पृ. 41
12. पटरियां, पृ. 19
13. वही, पृ. 74
14. निशाचर, पृ. 155
15. पटरियां, पृ. 33